ISSN: 2456–5474 RNI No.UPBIL/2016/68367 Vol-3* Issue-2*March (Supplementary Issue)-2018
Innovation The Research Concept

आधुनिक संदर्भों में संत रविदास के विचारों की प्रासंगिकता

सारांश

आज समूचा संसार वैश्विक शक्तियों की अति सक्रियता के कारण अशांत, आकुल और उद्वेलित है। हिंसा–प्रतिहिंसा और प्रतिरोध की आग सारे विश्व को अपने आगोश में समेटे जा रही है। पाश्चात्य का अंधानुकरण ने मानवीय मूल्यों, सभ्यता और संस्कृति के समक्ष विनाश की विभीषिका खड़ी कर दी है। ़भोग–विलास के साधनों के बढ़ते प्रयोग, असंयमित अभिलाषा, धनलोलुपता और प्रतिस्पर्धा के संघर्ष ने प्रेम, दया, करूणा, भाईचारा जैसे संबंधों को छिन्न–भिन्न कर मानव–मानव को एक दूसरे का शत्रु बना दिया है। हर जगह वैमनस्य, अत्याचार और दंगे–फसाद का बोलबाला है। धार्मिक कट्टरता ने दिल और दिमाग के दरवाजे बंद कर दिए हैं। स्नेह की स्निग्ध छाया, आस्था के विश्वास भरे स्वर आदि जनमानस के लिए स्वप्न बन गये हैं। आज समाज में सत्य का स्वरूप बदल गया है। स्वार्थ, लोभ, हिंसा, क्रूरता और विलासिता ने व्यक्ति को अर्थलोलुप बना दिया है। भोगवादी संस्कृति पनप रही है। व्यक्ति का धर्म हो गया है पैसा, जिसके लिए वह घृणित आचरण करने से भी नहीं झिझकता है। सच्चरित्रता उपहास की वस्तु बन गई है। राम और अल्लाह के नाम पर पाखण्ड़ी और विलासी व्यक्ति भी समाज में पूजे जा रहे हैं। भक्ति पैसों की मुहताज हो कर रह गयी है।

प्रमोद कुमार प्रसाद
असिस्टेंट प्रोफेसर,
हिन्दी विभाग
जे0 के0 कॉलेज,
पुरुलिया

मुख्य शब्द : संस्कृति, परंपरा, रूढ़ियाँ, वर्ण–वर्ग, धर्म, स्वाभिमान, स्वावलंबन समतामूलक, मूल्यबोध।

प्रस्तावना

भारतभूमि अनादिकाल से ऋषियों एवं संतों की भूमि रही है। सदियों से इन संतों ने मानव की जिज्ञासाओं और जीवन की जटिल समस्याओं का व्यवहारिक एवं युक्तिपरक समाधान करते रहे हैं तथा मानव हित में सत्य, अहिंसा, प्रेम, सद्भावना, सौहार्द्र और शांतितिपूर्ण जीवन जीने का उपदेशा देते रहे हैं। लोक कल्याण एवं मानव कल्याण ही संतों की सामाजिक चेतना का मूल उत्स रहा है। संत यद्यपि व्यक्तिगत साधना में रत रहते थे तथापि केवल अपनी आत्मोन्नति ही उनका लक्ष्य नहीं था प्रत्युत उनका उद्देशय था सुरसरि के समान समस्त विश्व का कल्याण। उनकी साधना सर्वजन हिताय थी। वे किसी एक देशा, किसी एक प्रान्त अथवा एक कालविशोष के नहीं थे। उनकी साधना सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक थी। लोक कल्याण एवं मानव कल्याण ही उनकीसाधना का इष्ट था। संतों ने ऊँच–नीच, छुआछूत, जाति–पाँति, अमीरी–गरीबी, मंदिर–मस्जिद, काबा–काशी, हिन्दू–मुस्लिम आदि जैसे भेदभावों को दरकिनार करते हुए भक्ति के द्वार सबके लिए खोल दिए। इन संतों ने मानव–जीवन को देव दुर्लभ बताकर इसकी सर्वोपरिता स्वीकार की थी, क्योंकि मानव तन साधन तन है। इसी को लक्ष्य करके संत चंडीदास ने निरूसंकोच भाव से कहा है –

शोनरे मानुष भाई
सबार उपरे मानुष सत्य
ताहार उपरे नाई।[1]

अध्ययन का उद्देश्य

सामाजिक जनचेतना को जागरूक करके सदियों से सोई हुई शोषित मानवता में नवीन स्फूर्ति का संचार करनेवाले उदारचेता महापुरुषों में संत रैदास का प्रमुख स्थान है। हिन्दी साहित्य जगत् में रैदास जी ऐसे प्रकाशा स्तम्भ हैं जिन्होंने केवल भक्तिकाल काल का ही नहीं बल्कि प्रत्येक युग के मानव समाज का अपनी लेखनी से मार्ग प्रशास्त किया है। मध्य युग में संत साहित्य की अजस्त्र धारा प्रवाहित करने वाले रैदास ने अपने चिंतनपूर्ण विचारों से समय का

प्रतिनिधित्व किया है तथा निराशा और अवसाद के क्षणों में आशाा की ज्योती जगायी। संत रविदास का आविर्भाव दो विभिन्न संस्कृतियों के संदर्भ का युग था। देश में अराजकता, अस्थिरता एवं अशांत का साम्राज्य था। जन जीवन अनेक धार्मिक पाखण्ड़ों, कुप्रथाओं, अंधविश्वासों से विकृत हो गया था। ऐसे समय में सबसे अधिक उत्पीड़ित साधारण जनता ही थी, उसके उद्धार के लिए रैदास एक विराट समन्वय की चेतना लेकर आगे आये। रैदास ने एक निर्द्वंद व्यक्ति की भाँति साहस के साथ देशा की दशा को भली–भाँति परखा और समाज में व्याप्त कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठायी। वर्ण–वर्ग भेद, धार्मिक कर्मकाण्ड एवं साम्प्रदायिक वैषम्य अपने चरम पर था। इन मतों एवं सम्प्रदायों के भँवरजाल में फँसकर साधारण जनमानस भ्रमित था। ऐसे विषम वातावरण में संत रविदास ने अपनी अमृतवाणीश द्वारा युग के शोषित एवं पीड़ित जनमानस में आस्था की ज्योति बिखेरने का काम किया। समाज में व्याप्त धार्मिक एवं समाजिक कुरीतियों का विरोध करते हुए धार्मिक मान्यताओं को अपने जीवन के व्यापक अनुभव के आधार पर बोधगम्य बनाया। पाखण्ड, दंभ और सामाजिक बिखराव के कठिन दौर में रैदास ने सभी धर्मों की अच्छाइयों को ग्रहण करने की बात की थी। जन–कल्याण के इच्छुक संत रैदास ने अपनी समन्वयात्मक प्रतिभा और सबल तर्कों से हिन्दू–मुस्लिम दोनों को सही मार्ग दिखाया और धर्म की आडम्बर पूर्ण कुरीतियों को त्यागने की शिक्षा दी।

रैदास एक कर्मयोगी संयासी थे। वे न हिन्दू थे, न मुसलमान। उनका मजहब था मानवता। उनका कहना था कि भाषा, धर्म, जाति आदि के लिए आन्दोलन करना, अशांति फैलाना किसी भी राष्ट्र प्रेमी के लिए उचित नहीं है। देशा का प्रत्येक नागरिक अपनी ताकत देशा की उन्नति में लगाये और कमजोर का सहारा बने, यही उनका मूल संदेशा था। समाज के उत्थान के लिए वे जीवन भर जूझते रहे। पहले से चली आ रही पांडित्य परम्परा और पुस्तकीय ज्ञान के वाद–विवाद को व्यर्थ बताते हुए मानवीय अनुभव और विवेक को ही प्रामाणिक माना। कबीर आदि संतों की भाँति पहले से निशिचत किसी सिद्धान्त या मत को ग्रहण नहीं किया।

भक्ति के उच्चतम शिखर पर आरूढ़ होनेवाले महान् कर्मयोगी संत रैदास के हृदय में जहाँ दलितों के प्रति पीड़ा औरशोषितों के प्रति प्यार था वहीं अपने समय के धार्मिक क्षेत्र में आधिपत्य जमानेवाले रूढ़िवादियों के प्रति क्षमा का भाव भी था। वे सर्वप्रथम भक्त थे किन्तु साथ ही अपने युग के महान् समाज सुधारक, तत्वदर्शी, सामाजिक क्रांति के अग्रदूत, कवि एवं विचारक थे। अपनी रचना षविमल–वाणीश द्वारा उन्होंने उस युग के पीड़ित एवं शोषित जनसमुदाय को नवजीवन प्रदान किया था तथा उस समय के समाज एवं भारतीय संस्कृति के विकास के लिए एक नया मार्ग प्रशास्त एवं आलोकित किया , तत्कालीन राष्ट्र की ह्रासोंन्मुख स्थिति में नयी शाक्ति का संचार किया। श्रम के महत्व में विश्वास रखते हुए निष्काम भाव से कर्तव्य में तल्लीन रहना ही उनके जीवन का महान आदर्शा था।

संत रैदास की साधना का सामाजिक पक्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण है। समदृष्टि, भेदभाव का नाशा, पारस्परिक प्रेम, सद्भावना एवं एकता का प्रचार उनकी सामाजिक कल्याणकारी साधन के प्रमुख अंग है। समय की आवशकता के अनुसार वर्ण विभाजन की कट्टरता, विवादपूर्ण धार्मिक आडम्बर एवं झूठे जातीय अभिमान के विरूद्ध उन्होंने आवाज उठाई एवं स्नेह, सहयोग, सहिष्णुता व शांतिपूर्ण संदेशा समाज को दिया जो हर युग में प्रेरणादायी है। स्वभाव से परम निस्पृह, लोक परलोक की निंदा–स्तुति से परे एकमामूली झोपड़ी में रहते हुए जूते बनाकर अपनी जीविका चलाने वाले संत रैदास के व्यक्तित्व में संतोष, निष्काम सेवा, सदाचार और प्रभु के प्रति आत्मसमर्पण की भावना कूटकूट कर भरी हुई थी। दीनता और विनम्रता की तो वे साक्षात्–प्रतिमूर्ति ही थे। जूते टाँकते जाते और प्रेम विह्वल वाणी में अपने हरि की चतुर्मुखी ठाकुर मूर्ति की ओर निहार–निहार कर गाते रहते प्रभु जी तुम चंदन हम पानी।[2] सेवाभाव उनके जीवन का प्रधान लक्ष्य था।

आज समाज भ्रष्टाचार की ओर बढ़ता जा रहा है। व्यक्ति अनैतिक तरीकों से धनोपार्जन में लगा है। अनैतिक तरीकों से प्राप्त धन मन को संतोष नहीं दे सकता। यह धन जब बोलता है तो अपयशा ही हाथ लगता है। असम्मानजनक स्थिति मनुष्य को घेर लेती है। गलत तरीके से विपुल धन प्राप्त करने की अपेक्षा ससम्मान किन्तु अल्पधन में जीना कहीं अच्छा है। इस बात को रैदास अपने जीवन में के माध्यम से चरितार्थ कर दिखाया। इस सबंध में बहुधा एक प्रसंग का उल्लेख किया जाता है कि एक बार इन्हें किसी साधु ने पारस पत्थर लाकर दिया और उक्त पत्थर का उपयोग भी इन्हें बतला दिया। परन्तु, रैदास ने उस बहुमूल्य वस्तु को ग्रहण करने से इनकार कर दिया और साधु के बहुत आग्रह करने पर उसे अपने छप्पर में कहीं खोंस देने के लिए कह दिया। तब से तेरह महीनों के अनंतर जब वह साधु वहाँ वापस आया और इनसे उस पत्थर का हाल पूछा, तब इन्होंने कहा– देख लीजिए, जहाँ था वहीं पड़ा होगा।[3] रविदास जी के इस उदार व्यक्तित्व के संबंध में आचार्य हजारी–प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है ––– अनाडम्बर सहज शौली और निरीह आत्मसमर्पण के क्षेत्र में रैदास के साथ कम संतों की तुलना की जा सकती है।[4]

उपभोगतावादी संस्कृति में जी रहा आज का मानव हर बात में अपना हीत देखता है। दुनिया की अर्थनीति स्वार्थ के संकुचित दायरे में कैद होकर रह गयी है। इस स्वार्थ के चलते क्या मनुष्य, मनुष्य का हित सम्पादन कर सकता है। इस स्वाभिमान की की प्रवृत्ति को मनुष्य के मन से दूर करने का क्या उपाय संभव हो सकता है। रैदास इस स्वार्थी प्रवृत्ति से निवृत्ति पाने के लिए देने के सुख की बात कह गये हैं। यदि व्यक्ति कुछ पाने की बात छोड़कर देने के सुख को पहचान जाये तो स्वार्थ की प्रवृत्ति हमारे अंतर में जन्म ही नहीं ले सकती। रैदास कहते हैं कि –

राग द्वेष कूं छांड़ि कर, निह करम करहु रे मीत।
सुख दुख सभ मंहिं थिर रहिं, षविदासश सदा मन मीत।।[5]

वर्तमान सदी विज्ञान और तकनीकि का युग है। शिक्षा के बढ़ते प्रचार के कारण तथा समय समय पर चलाये गये सुधारवादी आन्दोलनों के कारण समाज में व्याप्त तमाम रूढ़ियों एवं कुसंस्कारों से निजात पाने में सफल रहा पर जाति व्यवस्था के क्षेत्र में विशोष परिवर्तन दृष्टिगत नहीं होता । समाज में जातिगत पेशा और कर्मों के प्रति समाज की सोच अविवेकपूर्ण रही है। संत रैदास ने इस व्यवस्था की अवैज्ञानिकता पर प्रकाशा डालते हुए इससे मुक्त होने के लिए तरह–तरह से प्रेरित किया। इसलिए भक्त के रूप में प्रसिद्धि हो जाने पर भी इन्होंने अपने पैतृक व्यवसाय को कभी नहीं छोड़ा। जहाँ एक ओर संत रैदास ने तत्कालीन समाज में प्रचलित रूढ़ियों और आडम्बरों की निस्सारता का उद्घाटन किया, वहीं उन्होनें जातिगत पेशा एवं कार्यों को प्रतिष्ठा भी प्रदान की। रैदास ने स्वयं को चमार कहने में कभी संकोच नहीं किया। एकाधिक बार उन्होंने स्वयं को ष्चमारश कहते हुए अपने पेशो का गर्वपूर्वक बखान किया है –

जाति भी ओछी, करम भी ओछा, ओछा कसब हमारा।
नीचें ते प्रभु ऊंच कियो है, कह रैदास चमारा।।[6]

अपने समाज की श्रम–प्रियता को सन्त रैदास ने अपने जीवन में पूरी शिद्दत से जिया था। अपने पैतृक धन्धे को उन्होंने अपने जीवन का आधार बनाया था। उन्होंने श्रम को श्रम माना। श्रम के बीच में उन्होंने कोई भेदक रेखा नहीं खींची। उन्होंने कर्म को ही मनुष्य–धर्म के रूप में प्रतिपादित किया। श्रम–साधना को उच्च आदर्शा के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए उन्होंने कहा कि –––

रविदास श्रम करि खाइहि जौ लों पार बसाय।
नेक कमाई जेउ करइ कबहुँ न निहफल जाय।।
श्रम केउ ईसर जानि कै जेउ पूजहि दिन रैन।
रविदास तिन्हहि संसार यह सदा मिलहि सुख चौन।।[7]

यहाँ एक प्रशन उठता है कि जीवन में श्रम की यदि इतनी ही प्रतिष्ठा है, तो सगुण संतों ने कमाकर खाना क्यों नहीं पसंद किया? क्या एक भी ऐसा सगुणोपासक संत है, जिसने अपने पैतृक या जातिगत व्यवसाय को जीविका का साधन बनाया हो? इस बात का खुलासा करते हुए डॉ0 धर्मवीर ने अपनी पुस्तकसाधन बनाया हो? इस बात का खुलासा करते हुए डॉ0 धर्मवीर ने अपनी पुस्तक ष्गुरू रविदासश में लिखा है ––दलित जातियों के इन संतों ने अपने–अपने पेशा का गुणगान इसलिए किये क्योंकि चाहने पर भी वे इन्हें छोड़ नहीं सकते थे। पेशो का बदलना हिन्दुस्तान में ब्राम्हणी समाज व्यवस्था में एक क्रांति के बराबर है।[8]

अपने उक्त कथन को और प्रमाणिकता प्रदान करने के लिए वे आगे कहते हैं सगुणोपासकों को मंदिरों में खाने को मिल जाता था। वे भिक्षा से भी उदर पूर्ति कर लेते थे, लेकिन निर्गुण संतों के पास ऐसा कोई मंदिर नहीं था, जिससे उन्हें नियमित आय होती। फलतरू अपने जातिगत पेशा से जुड़े रहना उनकी विवशाता थी।

डॉ0 भारती का उक्त कथन अंशातरू सत्य होते हुए भी पूर्णतरू सत्य नहीं प्रतीत होता है। क्योंकि संतों ने पेशो का गुणगान इसलिए शुरू नहीं किया कि यह उनकी विवशाता थी प्रत्युत पेशा का गुणगान उन्होंने इसलिए शुारू किया ताकि दलितों में स्वाभिमान और स्वावलम्बन को स्थापित किया जा सके। दलित वर्ग में ऐसे जन्मजात कार्यों एवं व्यवसाय के प्रति जो हीन भाव है वह समाप्त हो जाय तथा वे समझ सके कि समाज में कोई कार्य बुरा नहीं है, न उसे अपनाने वाले नीच या वहिष्कृत हैं। यदि वह सच्चरित्र व अपने जीवन में सत्य एवं सन्मार्ग पर चलने वाले हैं। वस्तुतरू समाज और अध्यात्म के स्तर पर यह मूल्यों से टकराहट की लड़ाई थी, जिसे रैदास जैसे संतों ने अपने ढंग से लड़ने का प्रयत्न किया।

हमारे समाज में जाति व्यवस्था मनुष्यकृत सामाजिक बुराई है। इस बुराई के दुष्परिणाम इतने शार्मनाक हैं कि उनकी चर्चा करने में घिन आती है। यह व्यवस्था मनुष्यता के लिए साक्षात् गाली बन चुकी है। इसकी जड़ें इतनी गहरी है कि उन्हें उखाड़ फेंकने में संविधान भी असफल रहा है। समय की आवशयकतानुसार वर्ण विभाजन की कट्टरता, विवादपूर्ण धार्मिक आडम्बर एवं झूठे जातीय अभिमान के विरुद्ध उन्होंने अपनी आवाज बुलंद की। उन्होंने अपने जीवन में सबसे बड़ी लड़ाई जातिवाद और वर्ण–व्यवस्था के विरुद्ध लड़ी। उनका मानना था कि वर्णवाद सामाजिक विषमता को पैदा करता है और इस विषमता के कारण ही मानव–मानव में भेद पैदा होता है, जो कि राष्ट्र के विकास में सबसे बड़ा बाधक है। संत रविदास जी का मानना है कि जब मानव में शाारीरिक दृष्टि से किसी प्रकार का भेद नहीं है। जब सृजनहार ने मानव योनि में जनमें जीवों को मनुष्य के अतिरिक्त और कोई नाम नहीं दिया तब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैशय और शूद्र कैसे हुए? इसलिए वे स्पष्ट कहते हैं ––

रविदास जात मत पूछइ, का जात का पात
बाह्मन खत्री बैस सूद, सभन की इक जात।[9]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जाति–पाँति का विरोध उनके लिए एक साधारण घटना नहीं थी। इसके पीछे उनका एक महत्तर दृष्टिकोण था। उनका कहना था कि जब तक जाति–पाँति का भेद दूर नहीं होगा, मानव समाज में पारस्परिक मेल नहीं आ सकता। उनका लक्ष्य तो मनुष्यमात्र को एक विश्वव्यापी धर्म में निबद्ध करना था, जहाँ, जाति, वर्ग, वर्ण आदि का भेद न हो। जहाँ मनुष्य मनुष्य होकर भी अपने को दूसरे से हीन न समझे।

रविदास जाति–पाँति के समान ही धार्मिक क्षेत्र में भी समानता की बात करते हैं। भक्ति के क्षेत्र में वे मानते हैं कि सभी ईश्वर की संतान हैं, सभी को भक्ति का समान अधिकार है। भगवान की अराधना में न कोई छोटा है न बड़ा। भगवान की भक्ति में जाति–पाँति का भेदभाव न कभी था, न कभी है और न कभी रहेगा। भगवान की पूजा करने का अधिकार चांडाल को भी उतना ही है जितना ब्राह्मण को। क्योंकि भगवान जाति नहीं भक्त का भाव देखते हैं। जो भी सच्चे हृदय से उन्हें पुकारता है वे उसी के हो जाते हैं ––रे चित चेत अचेत काहे, बाल्मीकहिं देखि रे।

जाति से कोउ पद नहिं, हरि पहुंचा राम भगति विसेख रे।
षटक्रम सहित जे विप्र होते, हरि भगति चित भगति चित द्रढ़ नाहिं रे।
हरि की कथा सुहाय नाहीं, सुपच तुलै ताहि रे।
मित्र सत्रु अजात सब ते, अंतर लावै हेत रे।

लोक बाकी कहां जाने, तीन लोक पेवत रे।
अजामिल गज गनिका तारी, काटी कुंजर की पास रे।
ऐसे दुरमति मुकति किये, तो क्यों न तिरै रैदास रे।।[10]

यदि व्यक्ति के हृदय में सच्ची लगन नहीं है, सच्चा प्रेम नहीं है, तो दिखावटी पूजा अर्चना करने से कोई लाभ नहीं है ––

थोथी काया, थोथी माया, थोथी हरि बिन जनम गंवाया।
थोथा पंडित, थोथी बानी, थोथी हरि बिन सबै कहानी।[11]

संत रैदास ने भक्ति के प्रवाह में सगुण और निर्गुण का बन्धन स्वीकार नहीं किया। यद्यपि ब्राह्न के संबंध में उनकी धारणा निर्गुणमत सम्मत ही है। वे हरि में सब और सब में हरि को मानते हैं। संत रविदास का महत्व इस तथ्य से बढ़ जाता है कि उन्होंने अत्यंत सामाजिक निम्नता से अपने पुरूषार्थ के बल पर उठकर उच्चतम महानता को प्राप्त किया। संत नाभादास ने अपनी रचना भक्तमाल में रैदास के बारे में लिखा है – ष्सन्देह ग्रन्थि खण्डन निपुण वाणी विमल रैदास की।[12] श्री ब्रिंग्स ने अपनी पुस्तक ष्द चमार्सश में लिखा है– रविदास की धर्म आस्था कबीर की धर्म आस्था से बड़ी थी।[13] डॉ0 सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त ने अपनी पुस्तक हिन्दू मिस्टसिज्म में कहा है –संत रविदास ने कबीर की भांति राम और करीम की, वेद और कुरान की एकता देखी और वाह्याडम्बरों को व्यर्थ बताया पर उन्होंने कभी भी वेद, पुराण , कुरान, हिन्दुओं और मुस्लमानों, योगियों की निन्दा नहीं की।[14] संत रैदास वेद निन्दक नहीं वरण वेदानुयायी हिन्दू थे।

यूँ तो रविदास की साधना का हर पहलू महत्वपूर्ण है पर उनमें मानवतावादी दृष्टिकोण का विशेष स्थान है। समदृष्टि, भेदभाव का नाशा, पारस्परिक प्रेम, सद्भावना एवं एकता का प्रचार उनकी सामाजिक साधना के प्रमुख अंग हैं। संत रविदास ने जाति भेद, धार्मिक कट्टरता के अलावा जो दूसरा बड़ा काम किया वह था –– सर्वधर्म सम्भावश का। आज धर्म की भूमिका वह नहीं है, जो होनी चाहिए। स्वार्थ प्रेरित व्यक्तियों ने धर्म के दुरुपयोग को घृणा के स्तर तक पहुँचा दिया है। आज जबकि देशा में धर्म के नाम पर गोलियाँ चल रहीं हैं। सांप्रदायिकता सर्वोच्च शिखर पर खड़ी है, हर जगह वैमनस्य, अत्याचार और दंगे–फसाद का बोलबाला है, हिन्दु–मुस्लमानों में द्वेषभाव अपनी चरम सीमा पर है, धार्मिक कट्टरता ने दिल–दिमाग के दरवाजे बंद कर दिए हैं। ऐसे समय में झगड़े की जड़ बन चुके धर्म के विषय में संत रैदास ने बहुत ही साकारात्मक चिंतन प्रस्तुत किया है। उन्होंने ज्ञानपुष्ट तर्कों से विभिन्न धर्मों के अनुयायियों में व्याप्त भेद–भावना का खण्डन करके एकता की भावना सुदृढ़ की–

रैदास हमारा रामजी सोई है रहमान।
काशी काबा जानि नहीं, दोनों एक समान।।[15]

धार्मिक सहिष्णुता को उन्होंने सामाजिक विकास के लिए आवशयक माना। उनका कहना था कि जब तक हम इस भेद दृष्टि से मुक्त नहीं होंगे, तब तक समाज का विकास, जाति का विकास, राष्ट्र का विकास और मानवता का विकास नहीं हो पायेगा। इसीलिए वे कहते हैं ––

क्रिस्न करीम राम हरि राघव, जब लगि एक न पेखा।
वेद कतेब कुरान पुराननि, सहज एक नहिं देखा।
जोइ जोइ पूजिय सोइ सोइ कांची, सहजभाव सति होई।
कह रैदास मैं ताहि को पूजूं, जाके ठांव नांव नहिं कोई।।[16]

साम्प्रदायिक सद्भाव आज की महती आवशयकता है। भारत की अखण्डता के लिए आवशयक भी है। रैदास ने इसकी अनूठी मिशाल प्रस्तुत की है। वे सिर्फ भारतीयता के हिमायती हैं किसी धर्म विशोष के नहीं। उन्होंने न तो संत कबीर की तरह खंडन–मंडन में रूचि दिखायी और न किसी को लताड़ने–फटकारने का काम किया, बल्कि हर इंसान को चाहे वह किसी धर्म का हो, अपना मित्र बनाने की सलाह दी क्योंकि सबमें उसी एक परमेश्वर की ज्योति समायी हुई है ––

मुसलमान सों दोसती, हिंदुअन सों कर प्रीत।
रविदास जोति सभ राम की, सभ है अपने मीत।[17]

निष्कर्ष

आज के भौतिक युग की सबसे बड़ी समस्या है मानसिक अलगाव की। प्रगति के पथ पर हम जिस तेजी से अग्रसर होते जा रहे हैं, उसी परिणाम में मानसिक दूरियाँ बढ़ती जा रही हैं। समाज में घुटन, संत्रास और बिखराव के काँटे मानवता को लहूलुहान करते जा रहे हैं। धर्म अपना स्वरूप खोता जा रहा है। ईश्वर दिवारों मे कैद हो गया है। आज सत्य को संदेह के जाल में उलझा दिया गया है। सहज मानवता को भौतिकता की चकाचौंध में विस्मृत कर दिया गया है। वर्तमान दिशाहीन जनमानस में नैतिक मूल्यों की पुनर्स्थापना के लिए हमें फिर से रैदास याद आते हैं जिन्होंने हिन्दू–मुस्लिम सद्भाव को बढ़ाकर धर्म में आस्था जगाई। पंड़ित मौलवियों और धर्म गुरूओं की बौद्धिक उलझनों में भ्रमित होती जनता को जीवन का सच्चा मर्म समझाया और इंसानियत की राह पर चलने की प्रेरणा दी है। वास्तव में देखा जाए तो रैदास की वाणी जीवन में उतारने कीचीज है, केवल पढ़ने की चीज नहीं है। उनका एक–एक शाब्द जीवन सत्य को प्रकट करनेवाला और आत्मा को अलौकिक सुगन्ध से भर देने वाला है। उनकी वाणी ऐसी संजीवनी है, जिससे हर युग के जर्जर समाज को नव यौवन मिल सकता है। इसीलिए रैदास की प्रासंगिकता कभी समाप्त नहीं हो सकती। हमें आज फिर रैदास रास्ता दिखा सकते हैं और मूल्यहीनता और अनास्थाओं के दल–दल से बचाकर ठोस धरती पर सुरक्षित खड़ा कर सकते हैं।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. *संत काव्यरी प्रवृत्ति, पृ0–50*
2. *सिंह डॉ0 शुकदेव – रैदास बानी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण– 2003, पृ0–46*
3. *चतुर्वेदी श्री परशुराम –उत्तरी भारत की संत–परम्परा, भारती भण्डार, प्रयाग संवत्–2008, पृ0–238*
4. *हिन्दी साहित्य का इतिहास रू प्रवृत्यात्मक अध्ययन, पृ0–78*
5. *उपाध्याय काशीनाथ –गुरु रविदास, राधास्वामी सत्संग व्यास प्रकाशन, अमृतसर चतुर्थ संस्करण– 1985, पृ0–211*
6. *सिंह डॉ0 शुकदेव – रैदास बानी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2003, पृ0–159*

7. *सिंह डॉ0 शुकदेव–रैदास बानी,राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2003, पृ0–159*
8. *शुक्ल डॉ0 चन्द्रप्रकाशा –मध्यकालीन भक्तिकाव्यरू पुनरावलोकन, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण–2001, पृ0–116*
9. *उपाध्याय काशीनाथ –गुरु रविदास, राधास्वामी सत्संग व्यास प्रकाशन, अमृतसर चतुर्थ संस्करण–1985, पृ0–232*
10. *सिंह डॉ0 शुकदेव –रैदास वाणी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2003, पृ0–206*
11. *सिंह डॉ0 शुकदेव –रैदास वाणी,राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2003, पृ0–135*
12. *शुक्ल डॉ0 चन्द्रप्रकाशा –मध्यकालीन भक्तिकाव्यरू पुनरावलोकन, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण–2001, पृ0–131*
13. *शुक्ल डॉ0 चन्द्रप्रकाशा –मध्यकालीन भक्तिकाव्यरू पुनरावलोकन, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण–2001, पृ0–131*
14. *शुक्ल डॉ0 चन्द्रप्रकाशा –मध्यकालीन भक्तिकाव्यरू पुनरावलोकन, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण–2001, पृ0–131*
15. *शुक्ल डॉ0 चन्द्रप्रकाशा –मध्यकालीन भक्तिकाव्यरू पुनरावलोकन, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण–2001, पृ0–117.*
16. *सिंह डॉ0 शुकदेव –रैदास वाणी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2003, पृ0–204*
17. *उपाध्याय काशीनाथ –गुरु रविदास, राधास्वामी सत्संग व्यास प्रकाशन, अमृतसर चतुर्थ संस्करण–1985, पृ0–233*